

आचार्य कुन्दकुन्द की संतुलित दृष्टि

डॉ० लालबहादुर शास्त्री

दिगम्बर जैनाचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का प्रमुख स्थान है और वह इसलिये कि अगर आचार्य कुन्दकुन्द न होते तो आज दिगम्बर जैन धर्म का अस्तित्व न होता। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में १२ वर्ष के दुर्भिक्ष के बाद जो जैनत्व की परंपरा चली आ रही थी उसमें इतना विकार आ गया था कि सच्चा जैनत्व क्या है लोग इसको भूल ही गये थे, अतः इस विकृति को हटाने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने पाहुड ग्रन्थों की रचना की और अनेक सुदृढ़ एवं व्यवस्थित निर्णय दिये। साथ ही धर्म के नाम पर भोग विलासिता के आडम्बर को दूर कर अध्यात्म का उपदेश दिया समयपाहुड ग्रंथ उसी का परिणाम है। यह सही है कि विभक्त और अपने आप में अद्वैत आत्मा का वर्णन करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयदृष्टि को प्रधान रखा है, पर व्यवहार दृष्टि को उन्होंने भुलाया नहीं है। प्रत्युत बीच-बीच में वे विषय को समझाने के लिये व्यवहार-दृष्टि का भी संकेत करते गये हैं। यहां हम कुछ उदाहरण देंगे जिनसे पाठक यह समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्द अपने कथन के लिये सदा सापेक्ष रहे हैं, निरपेक्ष नहीं।

समयसार की छठी गाथा में कुन्दकुन्द कहते हैं कि यह आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त है शुद्ध ज्ञापक है।^१ यहां तक कि आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र भी नहीं है। किन्तु आगे सातवीं गाथा में कहते हैं, आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र व्यवहार-नय से है। निश्चय से न ज्ञान है, न दर्शन है।^२

गाथा नं० ८ में लिखा है कि बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश नहीं है। गाथा नं० ९ व १० में कहा है कि जो श्रुत से आत्मा को जाने वह परमार्थ से श्रुतकेवली है। जो समस्त श्रुत को जाने वह (व्यवहार से) श्रुतकेवली है। १२वीं गाथा में लिखा है कि परमभाव में जो स्थिति है उनको शुद्ध नय का उपदेश है और जो अपरम भाव में स्थिति है उनको व्यवहार का उपदेश है। इसी गाथा के अन्तर्गत अमृतचंद्र आचार्य ने दो कलश श्लोक दिये हैं जिनका आशय है 'यदि जिनेन्द्र के मत में दीक्षित होना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो व्यवहार के बिना तीर्थ नष्ट हो जायेगा और निश्चय के बिना तल नष्ट हो जायेगा।'^३

'दोनों नयों के विरोध को दूर करने वाले स्याद्वाद से अंकित जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में जो रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समय-सार ज्योति को देखते हैं जो सनातन है और किसी नय पक्ष से क्षुण्ण नहीं।'^४

गाथा १४ से लेकर पुनः शुद्ध नय की प्रधानता से कथन है और लिखा है 'कर्म, नो कर्म (शरीर) आदि सबसे पृथक् यह आत्मा है। किन्तु गाथा नं० २६ में व्यवहार का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि व्यवहार नय की अपेक्षा जीव और शरीर एक हैं किन्तु निश्चय नय से वे कभी एक नहीं हैं।

इसके बाद आचार्य ने अध्यवसान आदि भावों को पुद्गल बताया है। किन्तु गाथा ४६ में वे पुनः व्यवहार दृष्टि देते हुए लिखते हैं। भगवान् जिनेन्द्र ने अध्यवसानादि भावों को व्यवहार दृष्टि से जीव के भाव बतलाये हैं और आगे की गाथाओं में दृष्टान्त देकर अपने कथन का दृढीकरण किया है।

१. अष्टपाहुड इत्यादि

२. 'णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।'

३. 'ववहारे णुव दिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥'

४. 'जइ जिणमयं पवज्जह ला मा ववहार णिच्छाए सुयह ।

एवकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।'

५. 'उभयनय विरोधध्वंसनि स्यात्पदांके जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा सपदि समय सारं ते स्वयं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्वीक्षंत एव', गाथा नं० ४

पुनः गाथा ५० से ५५ तक वर्ण, रस, गन्ध, रागद्वेष, उदयस्थान, योगस्थान, गुणस्थान, मार्गणा आदि का जीव में निषेध किया है। परन्तु ५६वीं गाथा में लिखते हैं कि वर्ण आदि से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव व्यवहार नय से हैं, निश्चय नय से नहीं हैं। ६०वीं गाथा में भी इसी अभिप्राय को पुनः दोहराया है।

कर्तृकर्म अधिकार में आत्मा के परद्रव्य के कर्तृत्व का निषेध किया है किन्तु ८४वीं गाथा में लिखा है व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल आदि कर्मों को करता है और उन्हीं कर्मों का वेदन करता है अर्थात् भोक्ता है।

आगे चलकर पुनः ८६वें अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते हैं और भाव्य-भावक, ज्ञेय-ज्ञापक भाव का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं व्यवहाररूप नय से आत्मा घट, पट, रथ आदि द्रव्यों को करता है। स्पर्शन आदि पंच इन्द्रियों को करता है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को तथा क्रोधादि भावकर्मों को करता है।

इस तरह व्यवहार दृष्टि देकर पुनः निश्चय दृष्टि पर आ जाते हैं और कहते हैं कि जीव न घट बनाता है न पट बनाता है न अन्य शेष द्रव्यों को करता है। जीव के योग-उपयोग ही उक्त वस्तुओं को बनाते हैं लेकिन पुनः व्यवहार दृष्टि की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—आत्मा पुद्गल द्रव्य को व्यवहार नय से उत्पन्न करता है बनाता है परिणमाता है ग्रहण करता है।

इस तरह दोनों नयों का यथास्थान संकेत देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द शिष्य के द्वारा प्रश्न उठाते हैं तब आत्मा कर्मों से बद्धस्पष्ट है या अबद्धस्पष्ट है इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति समझाइये। इसका उत्तर कुन्दकुन्द निम्न प्रकार देते हैं—

हमने जो यह कहा है कि व्यवहार नय से जीव कर्म से बद्धस्पष्ट है और शुद्ध नय से अबद्धस्पष्ट नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव में कर्मों की बद्धस्पष्टता या अबद्धस्पष्टता ये दोनों ही नयपक्षपाती हैं समयसार (शुद्धात्मा) तो इन दोनों नय पक्षों से रहित है।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने इसी गाथा को अपने कलश-श्लोक में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् विकल्पजालच्युतां चिन्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ।

जो नयों के पक्षपात को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं। वे सभी विकल्प-जालों से रहित शान्तचित्त होकर साक्षात् अमृतपान करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस कलश के बाद अपने कथन के समर्थन में २० कलशों की रचना की है। जिनमें नित्य-अनित्य, मूढ़-अमूढ़, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिपादक व्यवहार और निश्चय को पक्षपात बतलाया है और लिखा है जो तत्त्वज्ञानी है वह इन दोनों पक्षपातों से रहित होकर चित्-सामान्य को ही ग्रहण करता है।^१

आचार्य कुन्दकुन्द की मूलगाथाओं में यह विषय प्रतिपादित है, जैसे :—

दोण्ह विणयाण भणियं जाणइ णवरितुं समयपडिबद्धो ।

ण तु णय पक्खं गिण्हदि किंचिवि, णयपक्ख परिहीणो ॥

शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन रहने वाला पुरुष दोनों नय के विषय को जानता है पर दोनों नयों के पक्ष को ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह नय-पक्ष से रहित है।

आगे की गाथा में इसी का पुनः समर्थन किया है और कहा है कि समयसार दोनों पक्षपातों से रहित है।

इस तरह उक्त दोनों आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार को समान कोटि में ला दिया है यदि व्यवहार-नय एक पक्ष है तो निश्चय-नय भी वैसा ही दूसरा पक्ष है आत्मस्वरूप में लीन होने के लिये दोनों पक्षों की आवश्यकता नहीं है किन्तु वस्तु को समझने तक ही दोनों नयों के पक्षपात की आवश्यकता होती है।

कर्तृकर्म अधिकार में जहां यह लिखा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है वहीं आगे चलकर परद्रव्य का कर्ता भी मानते हैं। वे लिखते हैं, सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है उसके लक्ष्य से यह जीव मिथ्यादृष्टि होता है। गाथा १६१ बंधाधिकार में वे लिखते हैं कि ज्ञानी पुरुष स्वयं रागादिरूप परिणमन नहीं करता है, जैसे स्फटिक मणि जपा पुष्प आदि से लाल होती है स्वयं लाल नहीं होती।

मोक्षाधिकार गाथा ३०६ में लिखा है प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार विष-कुम्भ हैं किन्तु सर्वविशुद्ध अधिकार में लिखा है 'पूर्वकृत अनेक प्रकार के जो शुभ-अशुभ कर्म हैं उनसे अपने आपको निवृत्त करता है प्रतिक्रमण है। आचार्य अमृतचन्द्र इससे भी आगे बढ़कर लिखते हैं जहां प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहां अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है इसलिये यह जीव प्रमाद से नीचे-नीचे क्यों गिरता है। प्रमाद रहित लेकर ऊपर क्यों नहीं चढ़ता। इसी सर्वविशुद्ध अधिकार में एक ओर तो कुन्दकुन्द

१. देखो—गाथा नं० १४८ की टीका

मुनिर्लिङ्ग गृहीलिङ्ग दोनों को मोक्ष मार्ग होने का निषेध करते हैं और दूसरी ओर लिखते हैं कि व्यवहार नय से दोनों लिङ्ग मोक्षमार्ग हैं किन्तु निश्चयनय सभी लिङ्गों को मोक्षमार्ग में नहीं चाहता इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके प्रमुख टीकाकार अमृतचन्द्र निश्चयप्रधान कथन का सहारा लेते हुए अपनी संतुलित दृष्टि को नहीं छोड़ते ।

यही कारण है कि निश्चय का व्याख्यान करते हुए भी व्यवहार दृष्टि को भी कहना चाहते हैं । आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अपनी इस संतुलित दृष्टि के लिये स्याद्वाद अधिकार में उपाय और उपेय भाव का चिन्तन किया है । जिसमें उपाय को व्यवहार और निश्चय को उपेय माना है अर्थात् दोनों में साधनसाध्यभाव माना है । व्यवहार को भेद रत्नत्रय कहकर उसे अभेद रत्नत्रय का साधन माना है और अभेद रत्नत्रय को साध्य माना है । यह अधिकार उन्हें एकान्त के विरोध में स्याद्वाद के लिये लिखना पड़ा है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मंगलाचरण में समयसार को कहने की प्रतिज्ञा की है और समयसार का उद्भव श्रुतकेवली से बताया है । यद्यपि टीकाकारों ने श्रुतकेवली का अर्थ श्रुत और केवली दोनों के द्वारा कहा हुआ भी बतलाया है । पर वस्तुतः कुन्दकुन्द का समयसार को श्रुतकेवली कथित कहने का अभिप्राय विशेष रहा है । शास्त्रों में केवली अरिहन्त को अर्थकर्ता बताया है और गणधर श्रुतकेवली को ग्रन्थकर्ता बताया है । इसका सीधा अर्थ यह है कि केवली मात्र-वस्तु का प्ररूपण करते हैं । किन्तु गणधर उसमें स्याद्वाद का पुट देकर उसे श्रुत का रूप देते हैं । श्रुत शब्द का अर्थ ही 'सुना हुआ है' । चूँकि गणधर इसे केवली तीर्थंकर के मुख से सुनते हैं और सुनने के बाद जब उसे ग्रथित करते हैं वह श्रुत का रूप ले लेता है । क्योंकि वह सुना हुआ है । अतः गणधर श्रुतकेवली की रचना नयप्रधान होती है । जैसाकि आचार्य अमृतचन्द्र के 'उभयनयापत्ता हि पारमेश्वरीदेशना' इस वाक्य से स्पष्ट है अर्थात् परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट श्रुत व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को लेकर होता है । चूँकि प्रस्तुत ग्रन्थ समयसार किसी एक नय को प्रधान करके लिखा जा रहा है अतः नयप्रधान कथन की प्रामाणिकता श्रुत के आधार पर ही हो सकती है और श्रुत केवलीकथित होता है । इसलिये कुन्दकुन्द भी समयसार को श्रुतकेवली-कथित बताते हैं । शास्त्रों में केवली के ज्ञान को प्रमाणज्ञान बताया है क्योंकि वह पदार्थ की अनन्तगुणपर्यायों को युगपत् देखता है किन्तु कमिक ज्ञान स्याद्वाद से संस्कृत होकर ही प्रमाणभूत होता है । इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की परम्परा को जो श्रुतकेवली से जोड़ा है वह विशेष अभिप्रायः से खाली नहीं है, क्योंकि आगम का वाक्य है कि 'भगवान् का उपदेश दोनों नयों (व्यवहार, निश्चय) के आधीन है' । अतः कुन्दकुन्द का समयसार भी परम्परा से भगवान् का उपदेश ही है अतः वह एक नय (निश्चयनय) के ही आधीन कैसे हो सकता है । इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ने अपने विषय के प्रतिपादन में दोनों नय-दृष्टियों को अपनाया है यही उनकी संतुलित दृष्टि है ।

जीवात्मा के साथ जब तक नित्य-नैमित्तिक का सम्बन्ध अशुद्धभाव से है, तब तक आत्मा को स्व-पर का ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । इस सन्दर्भ में कुन्दकुन्दाचार्य अपने ग्रन्थ नियमसार में स्पष्टीकरण देते हैं—

णो खलु सहावठाणा, णो माणवमाण भावठाणा वा ।

णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्स हरिस्स ठाणा वा ॥

भूत, भविष्य तथा वर्तमान—तीनों काल में जो निरुपाधि-स्वभाव है अर्थात् जिसकी कोई परद्रव्यसम्बन्धी उपाधि नहीं है । इस प्रकार के शुद्ध जीवास्तिकाय का निश्चय से कोई विभाग रूप स्वभाव नहीं है, शुभ-अशुभ समस्त मोह, राग और द्वेष के अभाव से उस शुद्ध जीव में मान-अपमान के कारणभूत किसी कर्म का उदय नहीं होता । निश्चय से भी उसकी शुभोपयोग रूप परिणति नहीं होती, इसलिए शुभ-कर्म का बंध नहीं होता । शुभ-कर्म का बंध न होने से सारहीन सांसारिक सुख नहीं होता, सांसारिक सुख का अभाव होने से उस शुद्ध आत्मा (जीव) में कोई हर्ष-स्थान सिद्ध नहीं होता । इस अवस्था में आत्मा में अशुभ परिणमन नहीं होता ।

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेसारसंग्रह, भाग ३, दिल्ली, वि० सं० २०१३ से उद्धृत)